ISSN-2454-8286

हिन्दी शोध एवं समालोचनापरक साहित्यिक पत्रकारिता

डॉ. कल्याण कुमार झा
प्रोफेसर, विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

साहित्य और शोध का संबंध रचनात्मक और अनुसंधानपरक है। साहित्य, शोध, समालोचना और साहित्यिक पत्रकारिता की समझ को सार्थक एवं मूर्त रूप देने के लिए अनुसंधान आवश्यक है।

हिन्दी शोध का अर्थ क्या है? शोध का सिद्धान्त अगर बना है तो उसकी मीमांसा भी होनी चाहिए। शोध कैसे किया जाए? यह प्रश्न सदैव शोधार्थियों और विषय-विशेषज्ञों के समक्ष प्रस्तुत होते रहता है। पूरी दुनिया में शोध के क्षेत्र में सदैव विमर्श होता रहता है। इस विमर्श से समय-समय पर जो निष्कर्ष सामने आता है उसे मूर्त रूप दिया जाता है। शोध की प्रविधि, शोध की वैज्ञानिकता, शोध की तकनीक, शोध की गम्भीरता और शोध के सिद्धान्त अनवरत् रूप से फिर-फिर शोध की माँग करते हैं।

शोधकार्य के महत्त्व पर विचार करते हुए मैथली प्रसाद भारद्वाज ने लिखा है–"शोध-कार्य उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उच्चतर, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। जिल्दबंदी के बाद शोध-प्रबंध मूल्यांकन के लिए विशेषज्ञ-परीक्षकों के पास भेजे जाते हैं। स्वीकृत हो जाने पर शोधार्थी के कार्य पर न केवल उसे उच्च उपाधि से सम्मानित किया जाता है, बल्कि उसके प्रबंध को पुस्तकालय में सार्वजनिक ज्ञान के उच्चतम वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। आने वाली पीढ़ियों के लिए यह प्रबंध सही या गलत मार्गदर्शन की सम्भावना और क्षमता से सम्पन्न माना जाता है। शोध के सार को रेखांकित करके विषय और क्षेत्र संबंधी शोध की वार्षिक सूचियों में शामिल किया जाता है। शोध के अंशों को क्षेत्र सम्बन्धी शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता है। यदि शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो जाए तब तो यह समग्रत: सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाता है...। शोध प्रबन्ध के स्तर पर न केवल शोधार्थी का ही, बल्कि उसके शोध-निर्देशक, विभाग, संकाय (फैकल्टी) तथा शोध-संस्थान का नाम और मान निर्भर होता है। यही कारण है कि औपचारिक शोध में क्षेत्र, विषय-चयन, कार्य-सम्पादन और प्रस्तुति के लिए सामान्य लेखन की अपेक्षा बहुत उच्च स्तर का निर्धारण होता है। इस उच्च स्तर का निर्वाह शोधार्थी, शोध-मार्गदर्शक, संकाय, शोध-स्थान तथा यहाँ तक कि शोध-परीक्षक–सबका समवेत नैतिक और सामाजिक कर्तव्य एवं दायित्व होता है।"[1]

हिन्दी में शोध शब्द के लिए 'गवेषण', 'खोज', 'अनुसंधान' आदि तथा अंग्रेजी में 'रिसर्च' (Research) शब्द का प्रयोग किया जाता है। चूँकि शोध का उद्‌भव विज्ञान से माना गया है इसलिए इतिहास और विज्ञान शोध के अभिन्न अंग हैं। शोध एक व्यापक शब्द है, जिसका संबंध परम्परा और नवीन तकनीक दोनों से है। लगभग एक शताब्दी पुराना हिन्दी शोध का इतिहास है। कोई भी अनुसंधान ज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न हुई शंकाओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए किया जाता है। शोध क्या है? इस संबंध में डॉ. देवराज उपाध्याय तथा डॉ. रामगोपाल शर्मा का विचार द्रष्टव्य है–"अनुसंधान क्या है? हमारे सामने अनन्त काल का प्रवाह बह रहा है, बह गया है। हम उसी अनन्त प्रवाह से एक लोटा पानी निकालकर अपने ज्ञान की तृष्णा बुझाना चाहते हैं। इसे ही प्रकारान्तर से अनुसन्धान कार्य करना कहा जाता है। पर शर्त यह है कि जो जल लोटे में भरते हैं उसमें बैक्टीरिया के असंख्य कीटाणु हैं। यदि हम उन्हें ज्यों-का-त्यों पी लेते हैं तो प्राणों को खतरे में डालते हैं। शुद्ध जल से ही हमारी तृष्णा बुझ सकती है। अत: हम जल नदी के तटस्थ प्रवाह से नहीं लेंगे, कोशिश करेंगे कि जल वहीं से लिया जाय जहाँ नदी की धारा स्वच्छ तीव्र प्रवाह से बहती है। यदि फिर भी उसमें विजातीय द्रव्य के मिश्रण की आशंका हुई तो तरह-तरह के उपचार से उसे निर्मल बनायेंगे, उबालेंगे, छानकर शुद्ध करेंगे इत्यादि।"[2]

डॉ. हरिवंशलाल शर्मा का मानना है कि शोध के लिए चार बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं–1. अनुपलब्ध या नवीन

तथ्यों की खोज अथवा उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का पुनराख्यान और उनका नए ढंग से प्रतिपादन। 2. किसी साहित्यिक कृति का ठोस निर्णयों के साथ आलोचनात्मक परीक्षण अथवा उसका प्रमाणपुष्ट पाठानुसंधान अथवा किसी अन्य कृति अथवा लेखक से उसकी तुलना। 3. ज्ञान के क्षेत्र की सीमा का विस्तार अर्थात् मौलिकता। 4. प्रतिपादन शैली।

आधुनिक शोध का आरम्भ पाश्चात्य देशों से माना जाता है। डॉ. सरनाथ सिंह मानते हैं कि सर विलियम जोंस तथा कोर्डी आदि विद्वानों ने शोध का आरंभ 19वीं शताब्दी में किया। हिंदी में शोध का आरंभ काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के साथ हुआ। जिज्ञासा मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है, और इस जिज्ञासा का सामाधान ढूँढ़ना ही 'शोध' है। किसी भी शोध में सत्य और तथ्य का विशेष महत्त्व होता है। डॉ. गणेश प्रसाद शोध के बारे में लिखते हैं–"जिज्ञासा और शंका दो शोध के आधार हैं। प्रचुर तथ्यों के आधार पर जब शोधार्थी पूर्णत: वीक्षणोपरांत किसी बिन्दु पर स्थिर होता है और वही उसकी प्रस्थापना एवं मूल्यांकन है। तर्क की कसौटी पर खरी उतरनेवाली ही सत्य-स्थिति विश्वास की स्थिति है और शोध-क्षेत्र में ऐसे ही विश्वास की आवश्यकता होती है। जहाँ उसकी शंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं, वहीं विश्वास उपजता है और यही विश्वास शोध की परिणति है। शोधार्थी शंकाओं के मार्ग से चलकर विश्वास की मंजिल पर पहुँचता है, हो सकता है कि यह विश्वास की मंजिल उत्तरवर्ती शोधार्थी के लिए सराय ही हो, पर है वह प्रयास की आंशिक पूर्णता। शोध के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति विशेष ने या शोधक ने किसी विषय सम्बन्धी शोध को पूर्ण कर दिया, यह तो उसकी आंशिक पूर्णता भर ही है। यदि ऐसा नहीं होता तो एक ही विषय पर विभिन्न शोधकों को शोध करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।"[3]

डॉ. उदयभान सिंह शोध के लिए 'अनुसंधान' शब्द को अधिक उपयुक्त मानते हैं। अनुसंधान शब्द व्याख्या, विचारणा, प्रक्रिया आदि का भी पर्याय है। प्रो. गुलाब राय शोध और अनुसंधान को एक रूप में ही स्वीकार करते हैं। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत 'शोध' की जगह 'अनुसंधान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं–"आजकल हिन्दी में शोध शब्द भी बहुत प्रचलित है। किन्तु हमारी समझ में यह सब 'रिसर्च' के आंशिक भाव की अभिव्यक्ति मात्र करके रह जाते हैं। उसके समूचे भाव, उसकी पूर्ण प्रक्रिया को प्रकट करने वाला हिन्दी और संस्कृत में एक ही शब्द उपलब्ध होता है। वह है–अनुसंधान।"[4]

साहित्य की किसी भी कृति को पढ़कर उसके संबंध में अपने मत प्रकट करना अथवा कृतिकार के वास्तविक अभिप्राय को समझना या समझाना अथवा उस कृति के गुण-दोषों की व्याख्या करना 'आलोचना' कहलाता है। आलोचना साहित्य की प्रत्येक विधा यथा–काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानी की हो सकती है, स्वयं आलोचनात्मक ग्रन्थ भी आलोचना से परे नहीं होते। एक ही ग्रन्थ की कितनी बार भी आलोचना हो सकती है यही नहीं किसी आलोचनात्मक ग्रन्थ की भी फिर-फिर आलोचना हो सकती है। जैसा कि श्यामसुन्दर दास लिखते हैं–

"आलोचना के दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उस के संबंध में कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते हैं और व्याख्या के अन्तर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। पर अब कुछ पाश्चात्य विद्वान यह कहने लगे हैं कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए; क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है।"[5]

पाश्चात्य विद्वान आलोचक का काम केवल ग्रन्थ की व्याख्या करना ही स्वीकार करते हैं। किन्तु आलोचक इस बात के लिए स्वतंत्र होता है कि वह कृति की व्याख्या करने के साथ ही अपना मत भी प्रकट कर सके। आलोचना किसी भी रचनाकार या कृतिकार की स्वेच्छाचारिता पर गतिरोध लगाने का काम करती है। आलोचना सदैव कृति के पीछे-पीछे संरक्षिका की तरह चलती है और उसे दूषित होने से बचाती है। आलोचना के महत्त्व को श्यामसुन्दर दास के प्रस्तुत उद्धरण में देख सकते हैं–

"व्याख्या का काम भी बहुत बड़ा और टेढ़ा है। किसी ग्रन्थ की व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा-पूरा अध्ययन करना पड़ेगा; उसे ग्रंथ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौन-सी बातें साधारण और क्षणिक हैं, और कौन-सी बातें विशेषतायुक्त और स्थायी हैं, तथा उसे इस बात का पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन-कौन सिद्धान्त आदि हैं। उस ग्रन्थ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनको वह प्रकाशित करेगा और उसमें इधर-उधर बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र करके उन पर विचार

करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रन्थ कैसा है। इस दशा में उस ग्रंथ के गुण या दोष लोगों के सामने आपसे आप आ जायेंगे। परन्तु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रन्थ को भी देखकर उस की आलोचना कर सकता है और उसी विषय के दूसरे ग्रन्थों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परंतु एक बात निश्चित है वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे, उसका एकमात्र उद्देश्य यही होगा कि वह स्वयं उस ग्रंथ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे।"[6]

हिंदी आलोचना को लोकमंगल की भावना से जोड़ने का श्रेय हिन्दी के यशस्वी आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जाता है। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति मौलिक चिन्तन और सामाजिक लोकभूमि पर आधारित है। शुक्ल जी ने समीक्षा के दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। जहाँ काव्यशास्त्र में सैद्धान्तिक आलोचना को प्रमुखता देते हैं वहीं कवियों के मूल्यांकन में व्यावहारिक आलोचना पद्धति को प्रमुखता से महत्त्व देते हैं। डॉ. महेन्द्र मधुकर लिखते हैं–

"आचार्य शुक्ल की समीक्षा में नैतिक मूल्यों का आग्रह था। लोक-मंगल और लोक-संग्रह का भाव प्रधान था। लोक में शिवत्व का विधान करने वाले कार्यों में उनकी रुचि थी। लोक हृदय को प्रभावित करने की क्षमता के आधार पर वे रचनाओं का मूल्यांकन करना उचित समझते थे। बुद्धि और हृदय का संतुलन बनाए रखना उन्हें अभीष्ट था। मनोरंजन अथवा चमत्कार को उन्होंने काव्य-क्षेत्र से बाहर रखने की संस्तुति की। लोकोत्तर वैचित्र्य-विधान या विचित्र-चरित्र को उन्होंने काव्य-जगत् से बाहर की बात माना था। शुद्ध उपदेशात्मक अथवा धार्मिक कृतियों से भी उनको परहेज था। आध्यात्मिकता और दार्शनिक मुद्राओं में लिखी रहस्यवादी रचनाओं के विषय में उनकी दृष्टि उदार नहीं थी। रसानुभूति को अलौकिक आनन्द की कोठरी से बाहर निकालकर प्रत्यक्षानुभूति के साथ उन्होंने जोड़ा था। उनकी इतिहास-दृष्टि समाजोन्मुख थी। सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश के भीतर होने वाले घात-प्रतिघात तथा द्वन्द्व संघर्ष को सामने रखकर शुक्ल जी कवि एवं कृति का मूल्यांकन करने के पक्षधर थे। रस-मीमांसा में विभाव को प्रमुखता देकर रस की अनुभूति पर विचार करते थे। प्रकृति को उद्दीपन मात्र न मानकर आलम्बन के रूप में वर्णित करने पर उनका जोर था। पाश्चात्य वादों, सिद्धान्तों और समीक्षाओं को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं किया, काव्य को कला मानने से स्पष्टत: इनकार किया। सौन्दर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा मौलिक थी, नीति और सदाचार का सौन्दर्य से अभिन्न सम्बन्ध मानकर उन्होंने सौन्दर्य की व्याख्या की है। सौन्दर्य की परिभाषा में उनकी मर्यादावादी दृष्टि निरन्तर सजग रही है।"[7]

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समय अनेक पत्रकारों ने जो राजनेता एवं साहित्यकार भी थे, लोगों में जनजागरण लाने के लिए तथा उनमें स्वतंत्रता का अलख जगाने के लिए पत्र-पत्रिकाओं को ही माध्यम बनाया। हिन्दी पत्रकारिता के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि इसका मूलस्वर साहित्यिक ही रहा है जो इसके उद्भव से लेकर विकास तक इसमें सदैव विद्यमान है। भूमंडलीकरण तथा बाजारवाद के इस दौर में भी इसने (हिन्दी पत्रकारिता) अपने सांस्कृतिक चेतना को धूमिल नहीं होने दिया। स्वतंत्रता के बाद जनआकांक्षाओं पर खरी उतरने के लिए साहित्यिक पत्रकारिता ने अनेक चुनौतियों का सामना करते हुए अपने अस्तित्व को बनाए रखा है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता, बदलते सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों को विश्लेषित करने का ही प्रयास है। 'साहित्यिक पत्रकारिता' के संदर्भ में अच्युतानन्द मिश्र का प्रस्तुत उद्धरण द्रष्टव्य है–

"गत साठ वर्षों की हिन्दी पत्रकारिता की मूलात्मा साहित्यिक-सांस्कृतिक ही रही है जो उसके उद्भव से लेकर अब तक विद्यमान है। व्यापक जनाकांक्षा और जनसंघर्षों को लेकर चलने वाली यह पत्रकारिता आज इस मायने में भी आश्वस्ति देती है कि भूमंडलीय और बाजार के वैश्विक हमलों के बावजूद इसकी प्रतिरोधी क्षमता और सांस्कृतिक चेतना की उदग्रता में कोई कमी नहीं आई है। हिन्दी जिस तरह वंचित जनों की वाणी है और उनके संघर्षों की अभिव्यक्ति, उसी तरह उसकी साहित्यिक पत्रकारिता एक नई सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रतिसंसार बनाने को प्रतिबद्ध एक आन्दोलन, जिसमें समानता, समता, स्वत्व तथा आत्मनिर्भरता के आदर्शों की शक्ति है। हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता जैसी विविधता अन्यत्र नहीं है, बल्कि दुनिया की अनेक बड़ी भाषाएँ भी इस प्रसंग में हिंदी से बहुत पीछे हैं। हिन्दी के विशाल परिक्षेत्र में अनेक वैचारिक प्रतिबद्धताओं,

दृष्टियों, संकल्पों और आदर्शों को लेकर जो सैकड़ों नियमित पत्रिकाएँ निकल रही हैं, वे अपने आप में हिन्दी की अद्वितीय सृजनात्मकता और हिन्दी जनों की अपरिमित निष्ठा का प्रमाण हैं।"[8]

वाक्-स्वतंत्रता या विचारों की अभिव्यक्ति का जो भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 (क) में वर्णित है का सीधा संबंध प्रेस या पत्रों की स्वतंत्रता से है। भारत में लोकतंत्र की स्थापना में हिंदी पत्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अत: हिंदी पत्रकारिता का सीधा संबंध नवजागरण और स्वराज से जुड़ा है। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के अनेक महत्त्वपूर्ण नेता तथा नायक हिंदी समाचार पत्रों के सम्पादक के पथ पर प्रतिष्ठित थे। बाल गंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, गांधी आदि आजादी के महान नायक हिंदी पत्रों के प्रति विशेष अनुग्रही थे। देश में स्वराज की स्थापना फिर स्वतंत्रता के लिए संघर्ष तत्पश्चात् देश के सर्वांगीण विकास के उत्तरदायित्व निर्वाह से हिंदी पत्रकारिता का इतिहास जुड़ा हुआ है। इस सन्दर्भ में राधे श्याम शर्मा लिखते हैं–

"हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव और विकास देश में जनजागरण के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं तकनीकी नव-जागरण से जुड़ा है। देश में स्वराज की प्राप्ति और उसके बाद सुराज की स्थापना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए सतत् संघर्ष से भी जुड़ा रहा है। लोकतंत्र की स्थापना तथा उसके संरक्षण में पत्रकारिता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस सारे संघर्ष में कलम के सिपाहियों का त्याग एवं बलिदान भी उल्लेखनीय रहा है। विचारों की और उसकी अभिव्यक्ति की आजादी का सीधा संबंध अखबारी आजादी से है। इसमें अनेक किस्म के स्वार्थ बाधक बनते रहते हैं, जो प्रगति की गति को रोकते हैं। इसके लिए स्वस्थ जनमत का निर्माण करके, राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा एवं विकास को नये आयाम देना पत्रकारिता का दायित्व है। भटकाव की हालत में दिशा-निर्देश देना और तात्कालिक स्वार्थों से ऊपर उठना एवं उठाना उसका फर्ज है।"[9]

साहित्यिक पत्रकारिता रचना, आलोचना और शोध को केन्द्र में लेकर चल रही है। सामान्य अर्थ में जिसे हम पत्रकारिता कहते हैं उससे साहित्यिक पत्रकारिता का कलेवर बिल्कुल भिन्न है। पत्रकारिता का संबंध मूलरूप से मनुष्य जीवन में घटित घटनाओं पर आधारित समाचार से है। इसका संबंध जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अलावे भौगोलिक सीमा में अपरिमित है। सूचना तकनीक के अत्याधुनिक आविष्कारों ने पत्रकारिता के क्षेत्र को और व्यापक बना दिया है।

साहित्यिक पत्रकारिता का मूल संबंध साहित्य से है। उस साहित्य से जो समाज का दर्पण होता है। ऐसा दर्पण जो न सिर्फ प्रतिबिम्ब को दृष्टिगोचर कराता है बल्कि प्रतिबिंब कैसा हो उसके लिए आदर्श स्थितियाँ उत्पन्न करता है। इस शोध आलेख के माध्यम से यह प्रयास किया गया है कि हिन्दी शोध एवं समालोचनापरक साहित्यिक पत्रकारिता एक स्थायी, यथार्थ और आदर्शमूलक स्थिति के बीच समन्वय स्थापित करने का सफल माध्यम है।

संदर्भ सूची :

1. शोध प्रविधि, मैथली प्रसाद भारद्वाज, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 2005, पृ. 18.
2. साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान, सं. डॉ. देवराज उपाध्याय और डॉ. रामगोपाल शर्मा, पृ. 12.
3. हिन्दी शोध दिशाएँ प्रवृत्तियाँ एवं उपलब्धियाँ, डॉ. गणेश प्रसाद, सर्वोदय वाङ्मय प्रकाशक, मुजफ्फरपुर, 1982, पृ. 15.
4. साहित्य-संदेश, डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, भाग 22, अंक 1-2, पृ. 5 (जुलाई-अगस्त, 1960 : शोध-विशेषांक)।
5. साहित्यालोचन, डॉ. श्यामसुन्दर दास, इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग, 1957, पृ. 205.
6. वही, पृ. 206.
7. हिन्दी-समीक्षा और आचार्य शुक्ल का मौलिक चिन्तन, विजयेन्द्र स्नातक, आचार्य शुक्ल का आलोचना शास्त्र, सम्पादक : डॉ. महेन्द्र मधुकर, मंजुल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 32.
8. साहित्यिक पत्रकारिता, ज्योतिष जोशी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007, पृ. 8.
9. हिन्दी पत्रकारिता : स्वरूप और आयाम, राधे श्याम शर्मा, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2002, पृ. फ्लैप से।

❐